

सम्पादकीय

नियमसार : एक अनुशीलन

(गतांक से आगे...)

इस छन्द के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“जिनभगवान तीन लोक के गुरु हैं अर्थात् तीन लोक में तो सिद्ध, ज्ञानी और मिथ्यादृष्टि सभी आ गये तथा भगवान से तो सिद्ध बड़े हैं; अतः वे उनके गुरु नहीं हैं और मिथ्यादृष्टि के भी गुरु नहीं हैं, अभव्यों के भी गुरु नहीं हैं। आचार्य समन्तभद्र ने स्वयंभू स्तोत्र में लिखा है कि जिसने आत्मा की ज्ञान-दर्शनादि की निर्मल पर्यायें प्रगट की हैं; उन जीवों के लिए भगवान! आप गुरु हो। आप साधकों के साध्य हो। इन सभी का उपचार करके आपको तीन लोक का गुरु कहा जाता है।^१

केवली भगवान के ज्ञान में सम्पूर्ण लोक स्थित है। यहाँ लोक की बात की है; पर वास्तव में भगवान एक समय में लोक-अलोक दोनों को जानते हैं। अतः वे ज्ञान में स्थित हैं - ऐसा कहते हैं। वास्तव में लोकालोक ज्ञान में नहीं आता; परन्तु केवलज्ञान सबको जानता है। ज्ञान के खिले हुए स्व-पर प्रकाशकस्वभाव में सम्पूर्ण लोक उतर गया है, वह ज्ञान में ज्ञात होने के कारण स्थित कहा जाता है।^२”

उक्त छन्द में यह कहा गया है कि घातिकर्म के नाशक, समस्त पदार्थों के ज्ञायक, तीन लोक के गुरु हे जिनेन्द्र भगवान! आप ही एकमात्र देव हैं। ऐसे देव को न तो बंध है, न मोक्ष है; उनमें न कोई मूर्च्छा है और न चेतना है; क्योंकि उनके तो द्रव्यसामान्य का ही आश्रय है।।२९०॥

तीसरा छन्द इसप्रकार है -

(मंदाक्रांता)

न ह्येतस्मिन् भगवति जिने धर्मकर्मप्रपंचो
रागाभावादतुलमहिमा राजते वीतरागः।
एषः श्रीमान स्वसुखनिरतः सिद्धिसीमन्तिनीशो
ज्ञानज्योतिश्छुरितभुवनाभोगभागः समन्तात् ॥२९१॥

(हरिगीत)

धर्म एवं कर्म का परपंच न जिनदेव में।
रे रागद्वेषाभाव से वे अतुल महिमावन्त हैं॥

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४४९

२. वही, पृष्ठ १४५०

वीतरागी शोभते श्रीमान् निज सुख लीन हैं।
मुक्तिरमणी कंत ज्ञानज्योति से हैं छा गये ॥२९१॥

जिनेन्द्र भगवान में धर्म और कर्म का प्रपंच नहीं है। तात्पर्य यह है कि उनमें साधक दशा में होनेवाले शुद्धि-अशुद्धि के भेद-प्रभेद नहीं है। राग के अभाव के कारण वे जिनेन्द्र भगवान अतुल महिमावंत हैं और वीतरागभावरूप से विराजते हैं। वे श्रीमान् शोभावान भगवान निजसुख में लीन हैं, मुक्तिरमणी के नाथ हैं और ज्ञानज्योति द्वारा लोक के विस्तार में चारों ओर से पूर्णतः छा गये हैं।

इस छन्द के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“तेरहवें गुणस्थान में विराजमान केवली को मैं धर्म करूँ - ऐसी साधकदशा नहीं है। पूर्णदशा हो गई है; अतः धर्म का प्रपंच अर्थात् विस्तार नहीं है और कर्म का विस्तार भी नहीं है। निचली दशा में धर्म और अधर्म का विस्तार होता है - ऐसा भेद साधकदशा में होता है, केवली के नहीं होता। साधकदशा में चारित्र पूर्ण नहीं है अर्थात् धर्म की पर्याय में तारतम्यता होती है और धर्म का अंश क्रमशः बढ़ता जाता है - ऐसी अनेकता केवली में नहीं है। चौथे, पाँचवें, छठवें गुणस्थान में चारित्र का अंश बढ़कर बारहवें गुणस्थान में पूर्ण होता है। ऐसा विस्तार तेरहवें गुणस्थान में नहीं है।”^१

इसप्रकार इस छन्द में यह कहा गया है कि वीतरागी-सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवान में न तो कर्म का प्रपंच है और न धर्म का विस्तार है; क्योंकि शुद्धि और अशुद्धि के भेदरूप धर्म और कर्म का विस्तार तो निचली भूमिका में होता है। अतुल महिमा के धारक जिनेन्द्र देव रागभाव के अभाव के कारण वीतरागभावरूप से विराजते हैं। वे वीतरागी भगवान निजसुख में लीन हैं और मुक्ति रमणी के नाथ हैं ॥२९१॥

नियमसार गाथा १७५

विगत गाथाओं में ज्ञानी को बंध नहीं होता - यह बताया है और अब इस गाथा में केवली भगवान के भावमन नहीं होता - यह बतलाते हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

ठाणणसेज्जविहारा ईहापुव्वं ण होइ केवलिणो।
तम्हा ण होइ बंधो साक्खट्टं मोहणीयस्स ॥१७५॥
(हरिगीत)

खड़े रहना बैठना चलना न ईहापूर्वक।
बंधन नहीं अर मोहवश संसारी बंधन में पड़े ॥१७५॥

केवली भगवान के खड़े रहना, बैठना और विहार करना इच्छापूर्वक नहीं होते; इसलिए उन्हें बंध नहीं होता। मोहनीयवश संसारी जीव को साक्षार्थ (इन्द्रिय विषय सहित) होने से बंध होता है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“भट्टारक केवली भगवान के भावमन नहीं होता - यहाँ यह बताया जा रहा है। अरहंत भगवान के योग्य परमलक्ष्मी से विराजमान परम वीतराग सर्वज्ञदेव केवली भगवान का कुछ भी वर्तन इच्छापूर्वक नहीं होता। मनप्रवृत्ति के अभाव होने से वे कुछ भी नहीं चाहते। अथवा वे इच्छा पूर्वक खड़े नहीं रहते, बैठते भी नहीं हैं और न इच्छापूर्वक विहार ही करते हैं; क्योंकि ‘अमनस्काः केवलिनः - केवली भगवान मनरहित होते हैं’ - ये शास्त्र का वचन है। इसलिए उन तीर्थकर परमदेव को द्रव्य-भावरूप चार प्रकार का बंध नहीं होता।

वह चार प्रकार का बंध क्यों होता है, किसे होता है ?

मोहनीय कर्म के विलास से वह बंध होता है तथा इन्द्रियों से सहित संसारी जीवों को मोहनीय के वश इन्द्रियविषयरूप प्रयोजन से वह बंध होता है।”

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा और उसकी टीका का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“त्रिलोकीनाथ तीर्थकरदेव को खड़े रहने का विकल्प नहीं होता है। जिस जगह ठहरना हो, वहाँ अपने आप ही देह रुक जाती है। भगवान को रुकने की इच्छा नहीं होती है। जहाँ पुण्यात्मा जीव रहते हैं, वहाँ स्वयमेव भगवान की देह ठहर जाती है। इन्द्र वहाँ समवशरण की रचना करता है। तत्पश्चात् भगवान वहाँ पद्मासन में विराजते हैं। ‘यहाँ के लोग पात्रजीव हैं; अतः मैं यहाँ ठहर जाऊँ’ - ऐसा राग भगवान को नहीं है।^२

यहाँ केवली भट्टारक के मनरहित होने की बात कही गई है। साधकदशा में राग होता है; वहाँ भावमन होता है। केवलज्ञानरूपी सूर्य के इच्छा नहीं होने से भावमन नहीं है।^३

भगवान के मन-प्रवृत्ति का अभाव होने से वे इच्छापूर्वक उठते-बैठते नहीं हैं तथा वे विहारादिक भी नहीं करते।^३

‘भगवान ने यज्ञ बन्द कराये, स्त्रियों को हक दिलवाये’ – ऐसा लोग कहते हैं; पर यह बात गलत है; क्योंकि भगवान को तो किसी भी प्रकार की इच्छा नहीं होती।^१

‘मैं धर्मतीर्थ की स्थापना करूँ’ – ऐसा विकल्प भी अर्हंत को नहीं होता है। वे समवशरण में बैठकर तीर्थ को नमस्कार करते हैं, यह बात भी गलत है। वे तो सिद्ध को भी नमस्कार नहीं करते हैं; क्योंकि उनके इच्छा नहीं है। तीर्थकर दीक्षा लेते समय सिद्धों को नमस्कार करते हैं; इसके अलावा छद्मस्थ दशा में भी तीर्थकर किसी को नमस्कार नहीं करते।

तीर्थकर भगवान का सैकड़ों गाँवों में विहार होता है; पर वह इच्छापूर्वक नहीं होता। अज्ञानी कहते हैं कि भगवान किसी को सम्बोधने गये, तो यह बात गलत है।^२

अज्ञानी मानते हैं कि महावीर भगवान को रोग हुआ तथा बाद में दवा लेने से मिट गया, यह सभी कल्पित बातें हैं।^३ उन तीर्थकर परमदेव को द्रव्य-भावस्वरूप चतुर्विध बंध नहीं होता।^४

अक्षार्थ अर्थात् इन्द्रियार्थ – अर्थात् इन्द्रिय के विषय। मोहनीय के वशीभूत होकर संसारी जीव इन्द्रियविषयों का सेवन करते हैं, उन्हें ही बंध होता है। मोह के अभाव से केवली को बंध नहीं होता।^५”

इसप्रकार इस गाथा और उसकी टीका में यही कहा गया है कि केवली भगवान के विहारादि इच्छापूर्वक नहीं होते; अतः उनको बंध भी नहीं होता। प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग – ये चार प्रकार के बंध मोहनीय कर्म के उदय से होनेवाले मोह-राग-द्वेष के कारण संसारी जीवों को होते हैं।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज ‘प्रवचनसार में कहा गया है’ – ऐसा कहकर एक गाथा प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है –

ठाणणिसेज्जविहारा धम्मवदेसो य णियदयो तेसिं ।

अरहंताणं काले मायाचारो व्व इत्थीणं ॥८५॥^६

(हरिगीत)

यत्न बिन ज्यों नारियों में सहज मायाचार त्यों।

हो विहार उठना-बैठना अर दिव्यध्वनि अरहंत के ॥८५॥

उन अरहंत भगवंतों के उस समय खड़े रहना, बैठना, विहार करना और धर्मोपदेश करना आदि क्रियायें स्त्रियों के मायाचार की भांति स्वाभाविक ही हैं, प्रयत्न बिना ही

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४५५

२. वही, पृष्ठ १४५५

३. वही, पृष्ठ १४५५-१४५६

४. वही, पृष्ठ १४५६

५. वही, पृष्ठ १४५६

६. प्रवचनसार, गाथा ४४

होती हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

“केवली की विहारादि क्रिया की सहजता बताने के लिए आचार्य कुन्दकुन्ददेव स्त्री का दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि स्त्री का भव पूर्व में क्रिये गये मायाचार से मिलता है। कुटिलता के भाव करने से स्त्रीवेद बंधता है।^१

जिसप्रकार स्त्रियों के वाणी व शरीर संबंधी अनेक चेष्टायें ऐसी होती हैं कि जो उनके भी ख्याल में नहीं आ पाती हैं; इसीप्रकार केवली को इच्छा बिना विहार, उपदेशादि होते हैं। तथा जिसप्रकार आकाश में बादल गमन करते हैं; तब बिजली पैदा होती है; वह भी स्वाभाविक ही है, उसे कोई इच्छापूर्वक नहीं करता है; इसीप्रकार भगवान को इच्छापूर्वक वर्तन नहीं है; अतः उन्हें बंध भी नहीं है।^२”

प्रवचनसार की उक्त गाथा में भी यही कहा गया है कि जिसप्रकार महिलाओं में मायाचार की बहुलता सहजभाव से पायी जाती है; उसीप्रकार केवली भगवान का खड़े रहना, उठना, बैठना और धर्मोपदेश देना आदि क्रियायें बिना प्रयत्न के सहज ही होती हैं।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छन्द लिखते हैं, जो इसप्रकार है-

(शार्दूलविक्रीडित)

देवेन्द्रासनकंपकारणमहत्कैवल्यबोधोदये

मुक्तिश्रीललनामुखाम्बुजरवेः सद्धर्मरक्षामणेः ।

सर्ववर्तनमस्ति चेन्न च मनः सर्वपुराणस्य तत्

सोऽयं नन्वपरिप्रमेयमहिमा पापाटवीपावकः ॥१९२॥

(हरिगीत)

इन्द्र आसन कंप कारण महत केवलज्ञानमय ।

शिवप्रियामुखपद्मरवि सद्धर्म के रक्षामणि ॥

सर्ववर्तन भले हो पर मन नहीं है सर्वथा ।

पापाटवीपावक जिनेश्वर अगम्य महिमावंत हैं ॥१९२॥

देवेन्द्रों के आसन कंपायमान होने के कारणभूत महान केवलज्ञान के उदय होने पर; जो मुक्तिलक्ष्मीरूपी ललना के मुखकमल के सूर्य और सद्धर्म के रक्षामणि पुराणपुरुष भगवान के भले ही सभी प्रकार का वर्तन हो; तथापि भावमन नहीं होता;

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४५७

२. वही, पृष्ठ १४५७

इसलिए वे पुराणपुरुष अगम्य महिमावंत हैं एवं पापरूपी अटवी (भयंकर जंगल) को जलाने के लिए अग्नि के समान हैं।

उक्त छन्द में भी केवली भगवान की स्तुति करते हुए यही कहा गया है कि सच्चे धर्म की रक्षा करनेवाले केवलज्ञान के धनी अरहंत भगवान के उपदेशादि क्रियायें हों, पर उनके भावमन नहीं होता; अतः कर्मों का बंध नहीं होता।

नियमसार गाथा १७६

विगत गाथा में यह बताया गया था कि केवली भगवान के खड़े रहना, बैठना, चलना आदि क्रियायें इच्छापूर्वक नहीं होतीं और अब इस गाथा में यह बताया जा रहा है कि आयु कर्म के साथ अन्य अघाति कर्मों का भी क्षय हो जाता है तथा केवली भगवान एक समय में सिद्धशिला पर विराजमान हो जाते हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

आउस्स खयेण पुणो णिण्णासो होइ सेसपयडीणं।

पच्छा पावइ सिग्घं लोयगं समयमेत्तेण ॥१७६॥

(हरिगीत)

फिर आयुक्षय से शेष प्रकृति नष्ट होती पूर्णतः।

फिर शीघ्र ही एक समय में लोकाग्रथित हों केवली ॥१७६॥

फिर आयुकर्म के क्षय से शेष अघातिकर्मों की प्रकृतियों का भी क्षय हो जाता है और वे केवली भगवान शीघ्र समयमात्र में लोकाग्र में पहुँच जाते हैं।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यह शुद्धजीव को स्वभावगति की प्राप्ति होने के उपाय का कथन है। स्वभावगति क्रियारूप से परिणत, छह अपक्रम से रहित, सिद्धक्षेत्र के सन्मुख अरहंत भगवान को; ध्यान-ध्येय-ध्याता संबंधी, ध्यान के फल प्राप्ति संबंधी तथा तत्संबंधी प्रयोजन संबंधी विकल्पों से रहित एवं स्वस्वरूप में अविचल स्थितिरूप परमशुक्लध्यान द्वारा आयुकर्म के क्षय होने पर, वेदनीय, नाम और गोत्र नामक कर्म की प्रकृतियों का सम्पूर्ण नाश होता है।

शुद्ध निश्चयनय से सहज महिमावान निज स्वरूप में लीन होने पर भी व्यवहारनय से वे अरहंत भगवान अर्ध क्षण में अर्थात् एक समय में लोकाग्र में पहुँच जाते हैं।”

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“सिद्ध भगवान समश्रेणी में सीधे लोकाग्र जाते हैं - यह स्वभावगति का परिणमन है। सिद्धक्षेत्र के अभिमुख अरहंत परमात्मा के परमशुक्ल ध्यान द्वारा कर्मों का सम्पूर्ण नाश होता है।”

सिद्ध भगवान लोकाग्र में रहते हैं - यह व्यवहार है; वास्तव में तो वे अपने असंख्य प्रदेशों में स्थित रहते हैं। चैतन्य का क्षेत्र उनके असंख्य प्रदेश हैं। उनमें ज्ञान, दर्शन आदि अनन्त गुण हैं। उनमें एकाग्र होने पर केवलज्ञानादि खिल उठते हैं। सिद्ध भगवान लोकाग्र में रहते हैं - ऐसा कहना व्यवहार है, वास्तव में तो वे अपने ज्ञान, आनन्द में रहते हैं।”

इस गाथा और उसकी टीका में यह कहा गया है कि अन्तिम शुक्ल ध्यान के प्रभाव से आयुकर्म के साथ ही नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म का भी नाश हो जाने से अरहंत परमात्मा एक समय में सिद्ध हो जाते हैं, सिद्धशिला में विराजमान हो जाते हैं ॥१७६॥

इसके बाद टीकाकार मुनिराज तीन छन्द लिखते हैं; उनमें से पहला छन्द इसप्रकार है -

(अनुष्टुभ्)

षट्कापक्रमयुक्तानां भविनां लक्षणात् पृथक्।

सिद्धानां लक्षणं यस्मादूर्ध्वगास्ते सदा शिवाः ॥२९३॥

(दोहा)

छह अपक्रम से सहित हैं जो संसारी जीव।

उनसे लक्षण भिन्न हैं सदा सुखी सिध जीव ॥२९३॥

षट् अपक्रमों से रहित संसारी जीवों के लक्षण से सिद्धों का लक्षण भिन्न होता है। इसलिए वे सदाशिव अर्थात् सदासुखी सिद्धजीव ऊर्ध्वगामी होते हैं।

संसारी जीव अगले भव में जाते समय जो पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण और ऊपर-नीचे - इन छह दिशाओं में गमन करते हैं; उसे छह अपक्रम कहते हैं। सिद्ध जीवों की गति ऊर्ध्व होने से छह अपक्रमों से रहित होती है। उक्त छह अपक्रमगति वाले संसारी जीवों से सिद्धों का लक्षण भिन्न है। यही कारण है कि वे ऊर्ध्वगामी और सदा शिवस्वरूप हैं ॥२९३॥

(मंदाक्रांता)

बन्धच्छेदादतुलमहिमा देवविद्याधराणां

प्रत्यक्षोऽद्य स्तवनविषयो नैव सिद्धः प्रसिद्धः।

लोकस्याग्रे व्यवहरणतः संस्थितो देवदेवः
स्वात्मन्युच्चैरविचलतया निश्चयेनैवमास्ते ॥२९४॥

(वीर)

देव और विद्याधरगण से नहीं बंध प्रत्यक्ष जहान।
बंध छेद से अतुलित महिमा धारक हैं जो सिद्ध महान ॥
अरे लोक के अग्रभाग में स्थित हैं व्यवहार बखान।
रहें सदा अविचल अपने में यह है निश्चय का व्याख्यान ॥२९४॥

कर्मबंध का छेदन हो जाने से अतुल महिमा के धारक सिद्ध भगवान सिद्धदशा प्राप्त होने पर देव और विद्याधरों के द्वारा प्रत्यक्ष स्तुति गान के विषय नहीं रहे हैं - ऐसा प्रसिद्ध है; तथापि वे व्यवहार से लोकाग्र में स्थित हैं और निश्चय से निज आत्मा में अविचलरूप से रहते हैं।

अरहंत अवस्था में तो सौ इन्द्र उनके चरणों में नमते हैं, गणधरदेव आदि सभी मुनिराज भी उनकी आराधना करते हैं; किन्तु सिद्धदशा प्राप्त हो जाने पर यह सबकुछ नहीं होता; तथापि वे सिद्ध भगवान निज आत्मा में अविचलरूप से विराजमान रहकर अनन्तसुख का उपभोग करते हुए सिद्धशिला पर विराजमान रहते हैं ॥२९४॥

(अनुष्टुभ्)

पंचसंसारनिर्मुक्तान् पंचसंसारमुक्तये ।

पंचसिद्धानहं वंदे पंचमोक्षफलप्रदान् ॥२९५॥

(दोहा)

पंचपरावर्तन रहित पंच भवों से पार ।

पंचसिद्ध बंदों सदा पंचमोक्षदातार ॥२९५॥

पाँच प्रकार के संसार से मुक्त होने के लिए, पाँच प्रकार के संसार से मुक्त, पाँच प्रकार के मोक्षरूपी फल को देनेवाले, पाँच प्रकार के सिद्धों की मैं वंदना करता हूँ।

उक्त छन्द का आशय यह है कि सिद्ध भगवान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पंचपरावर्तनरूप संसार से मुक्त हैं, उक्त पाँच प्रकार रूप संसार से मुक्त करने रूप फल को देनेवाले हैं; अतः उक्त पाँच प्रकार के संसार से मुक्त होने के लिए मैं उक्त पाँच प्रकार की उपलब्धि से युक्त सिद्धों की वंदना करता हूँ ॥२९५॥

नियमसार गाथा १७७

अब इस गाथा में कारणपरमतत्त्व का स्वरूप समझाते हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

जाइजरमरणरहियं परमं कम्मट्टवज्जियं सुद्धं ।

णाणाइचउसहावं अक्खयमविणासमच्छेयं ॥१७७॥

(हरिगीत)

शुद्ध अक्षय करम विरहित जनम मरण जरा रहित ।

ज्ञानादिमय अविनाशि चिन्मय आतमा अक्षेद्य है ॥१७७॥

वह कारणपरमतत्त्व; जन्म-जरा-मरण और आठ कर्मों से रहित, परम, शुद्ध, अक्षय, अविनाशी, अच्छेद्य और ज्ञानादि चार स्वभाव वाला है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्यप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यह कारणपरमतत्त्व के स्वरूप का निरूपण है।

वह कारणपरमतत्त्व; स्वभाव से ही संसार का अभाव होने से जन्म-जरा-मरण रहित है; परमपारिणामिकभाव से परमस्वभाववाला होने से परम है; त्रिकाल निरुपाधि स्वरूप होने से आठ कर्मों से रहित है; द्रव्यकर्म और भावकर्मों से रहित होने से शुद्ध है; सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजचारित्र और सहज चित्शक्तिमय होने से ज्ञानादिक चार स्वभाव वाला है; सादि-सान्त, मूर्त इन्द्रियात्मक विजातीय विभाव व्यंजनपर्याय रहित होने से अक्षय है; प्रशस्त-अप्रशस्त गति के हेतुभूत पुण्य-पाप कर्मरूप द्वन्द का अभाव होने से अविनाशी है; तथा वध, बन्धन और छेदन के योग्य मूर्तिकपने से रहित होने के कारण अच्छेद्य है।”

इस गाथा के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस प्रकार स्पष्ट करते हैं -

“सिद्ध परमात्मा सुखी कैसे हुए हैं? ऐसा पूछने पर कहते हैं कि आत्मा अनादि-अनन्त है; उसे किसी ने बनाया नहीं है। उसके त्रिकाल ध्रुव स्वभाव में संसार नहीं है। पर्याय में मात्र एक समय का ही संसार है। यदि वस्तु में संसार हो तो संसार का कभी नाश ही न हो। उसके अवलंबन से सिद्ध भगवान ने पूर्णदशा पाई है। यह सिद्ध परमात्मा का वर्णन करते हुए, सिद्धदशा जिसके अवलंबन से हुई है - उस कारणतत्त्व की व्याख्या की है; क्योंकि आत्मा का जैसा स्वभाव है, वैसी पूर्णदशा सिद्धभगवान को प्रगट हो गई है।”

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४७०

उक्त गाथा में त्रिकाली ध्रुव कारणपरमतत्त्व के, कारणपरमात्मा के जो भी विशेषण दिये गये हैं; टीकाकार ने उन सभी को कारण सहित परिभाषित किया है। वे विशेषण टीका में पूरी तरह स्पष्ट हो गये हैं; अतः कुछ विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है।।१७७।।

इसके बाद टीकाकार एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है -
(मालिनी)

अविचलितमखंडज्ञानमद्वन्द्वनिष्ठं

निखिलदुरितदुर्गात्रातदावाग्निरूपम् ।

भज भजसि निजोत्थं दिव्यशर्मा मृतं त्वं

सकलविमलबोधस्ते भवत्येव तस्मात् ॥२९६॥

(वीर)

राग-द्वेष के द्वन्द्वों में जो नहीं रहे अधनाशक है।

अखिल पापवन के समूह को दावानल सम दाहक है ॥

अविचल और अखण्ड ज्ञानमय दिव्य सुखामृत धारक है।

अरे भजो निज आत्म को जो विमलबोध का दायक है ॥२९६॥

अविचल, अखण्डज्ञानरूप, अद्वन्द्वनिष्ठ और सम्पूर्ण पाप के दुस्तर समूह को जलाने के लिए दावानल के समान स्वयं से उत्पन्न दिव्यसुख रूपी अमृतरूप भजने योग्य आत्मतत्त्व को भजो, आत्मतत्त्व का भजन करो; क्योंकि उससे ही तुम्हें सम्पूर्णतः निर्मल केवलज्ञान प्राप्त होगा।

उक्त छंद में अपने आत्मतत्त्व को भजने की प्रेरणा दी गई है ॥२९६॥

नियमसार गाथा १७८

जिस कारणपरमतत्त्व की चर्चा विगत गाथा में की गई थी, इस गाथा में भी उसी परमतत्त्व की बात कही जा रही है।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

अव्वाबाहमणिंदियमणोवमं पुण्णपावणिम्मुक्कं ।

पुण्णरागमणविरहियं णिच्चं अचलं अणालंबं ॥१७८॥

(हरिगीत)

पुण्णपावणिविरहित नित्य अनुपम अचल अव्याबाध है।

अनालम्ब अतीन्द्रियी पुनरागमन से रहित है ॥१७८॥

वह कारणपरमतत्त्व; अव्याबाध है, अतीन्द्रिय है, अनुपम है, पुण्य-पाप से रहित है, पुनरागमन से रहित है, नित्य है, अचल है और अनालंबी है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यहाँ भी निरुपाधिस्वरूप है लक्षण जिसका - ऐसा परमात्मतत्त्व ही कहा जा रहा है। वह परमात्मतत्त्व; सम्पूर्ण पुण्य-पापरूप दुष्ट अधरूपी वीर शत्रुओं की सेना के उपद्रवों को अगोचर सहजज्ञानरूपी गढ में आवास होने के कारण अव्याबाध है; सर्व आत्मप्रदेशों में भरे हुए चिदानन्दमय होने से अतीन्द्रिय हैं; बहिरात्मतत्त्व, अन्तरात्मतत्त्व और परमात्मतत्त्व - इन तीनों में विशिष्ट होने के कारण अनुपम है; संसाररूपी स्त्री के संभोग से उत्पन्न होनेवाले सुख-दुख का अभाव होने के कारण पुण्य-पाप से रहित है; पुनरागमन के हेतुभूत प्रशस्त-अप्रशस्त मोह-राग-द्वेष का अभाव होने के कारण पुनरागमन से रहित हैं; नित्यमरण (प्रतिसमय होनेवाले मरण) तथा उस भवसंबंधी मरण के कारणभूत शरीर के संबंध का अभाव होने के कारण नित्य है; निजगुणों और पर्यायों से च्युत न होने के कारण अचल है और परद्रव्य के अवलम्बन का अभाव होने के कारण अनालम्ब है।”

स्वामीजी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“परमात्मतत्त्व बाधारहित है; इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होता है; खण्ड-खण्ड ज्ञान द्वारा भी आत्मा ज्ञात नहीं होता; क्योंकि आत्मा अतीन्द्रिय है। भगवान आत्मा उपमा रहित है। संसार में तो उपमा दी जा सकती है; परन्तु जिस आत्मा के असंख्यप्रदेश से केवलज्ञान का अनन्त दीपक जल गया है; उसकी क्या उपमा हो सकती है? वह तो अनुपम है। आत्मा का त्रिकाली स्वभाव भी सिद्धों जैसा ही है; अतः वह भी अनुपम है। आत्मा त्रिकाल शुद्ध है; उसमें पुण्य-पाप का प्रवेश नहीं है। आत्मा कारण है और सिद्धदशा उसका कार्य है।

जिसप्रकार सिद्ध भगवान को दुबारा जन्म नहीं लेना है; उसीप्रकार आत्मा का भी अवतार नहीं होता है। जिसप्रकार आत्मा नित्य है; उसीप्रकार उसकी पूर्ण पर्याय भी नित्य है; क्योंकि वह ज्यों की त्यों हमेशा कायम रहती है। आत्मा का स्वभाव अचल है; सिद्धपर्याय भी अचल है। सम्यग्दर्शन का विषय त्रिकाली स्वभाव है, वह अचल और निरालंब है। ‘द्रव्यदृष्टि ही सम्यग्दृष्टि

है' - यह वीतरागदेव की मोहर है। त्रिकाली ध्रुव द्रव्यस्वभाव की श्रद्धा करना ही सम्यग्दर्शन है।

यहाँ भी निरुपाधिस्वरूप परमात्मतत्त्व को कहा है। जिसप्रकार १७७वीं गाथा में कहा था; उसीप्रकार यहाँ भी आत्मा के त्रिकाली स्वभाव में उपाधि नहीं है - ऐसा कहते हैं।

परमात्मतत्त्व का स्वरूप बताते हुए मुनिराज कहते हैं कि जो परमात्मतत्त्व समस्त दुष्ट-पापरूपी वीर शत्रुओं की सेना के लिए अगोचर एवं सहजज्ञानरूपी किले में रहने के कारण अव्याबाध है, निर्विघ्न है। सिद्ध भगवान भी शुद्ध आत्मा की तरह पुण्य-पाप की बाधा से रहित हैं। पुण्य और पाप दोनों ही संसार को बढ़ानेवाले होने से पाप ही हैं। अज्ञानीजन हिंसा, चोरी, काम-क्रोधादि के भावों को ही पाप कहते हैं; पर ज्ञानीजन तो दया, दान, भक्ति, व्रतादि के भावों को भी पाप कहते हैं; क्योंकि पुण्य-पाप दोनों ही आत्मा की शान्ति को लूटनेवाले हैं। पुण्य भी आत्मा का शत्रु है।^१

आत्मा के असंख्यात प्रदेश हैं। उनमें ज्ञान और आनन्द भरे हुए हैं। आत्मा ज्ञान की गाँठ (पोटली) और आनन्द का मटका है। जिसप्रकार शक्कर में मिठास और सफेदी दोनों हैं; उसीप्रकार आत्मा ज्ञान-आनन्द की खान है। वह इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होता; अतः अतीन्द्रिय है।

आत्मा बहिरात्म, अन्तरात्म और परमात्म - इन तीनों तत्त्वों में व्याप्त होने से, विशिष्ट होने से अनुपम है।^२

बहिरात्मतत्त्व, अन्तरात्मतत्त्व और परमात्मतत्त्व - ये सभी पर्यायें हैं। उनसे विशिष्ट असाधारण त्रिकाली सामान्यतत्त्व अनुपम हैं अर्थात् आत्मा को किसी अन्य पदार्थ से उपमित नहीं किया जा सकता है।^३

पुण्य-पाप आत्मा की विकारी परिणतिरूप स्त्री है। उस स्त्री के संवेदन से होनेवाले सुख-दुःख का आत्मा में अभाव है।^४

वह आत्मा और सिद्ध परमात्मा नित्यमरण (प्रतिसमय होनेवाला आयुर्कर्म के निषेकों का क्षय) और भवसंबंधी मरण के कारणभूत शरीर के संबंध का अभाव हो जाने से नित्य हैं। निजगुण और पर्याय से च्युत नहीं होने के कारण अचल हैं। परद्रव्य के

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४७६-१४७७

२. वही, पृष्ठ १४७८

३. वही, पृष्ठ १४७८

४. वही, पृष्ठ १४७८

आलंबन का अभाव होने के कारण निरालंब हैं। संसारियों के प्रतिक्षण आयुर्कर्म का क्षय होता जाता है। सिद्धों में आयुर्कर्म नहीं है; अतः वहाँ मरण भी नहीं है। तथा आत्मा में कर्म भी नहीं है; अतः आत्मा का भी मरण नहीं होता। संसारियों की पर्याय में प्रतिक्षण भावमरण हो रहा है, यह भावमरण त्रिकाली स्वभाव में नहीं है। आत्मा में जब भव ही नहीं है तो मरण किसका? आत्मा का मरण नहीं होता; अतः वह नित्य है। तथा आत्मा अपने त्रिकाली गुण और कारणशुद्धपर्याय से कभी च्युत नहीं होता; अतः अचल है। उसे पर का आलंबन नहीं है; अतः वह निरालम्ब है। यह जीव ऐसे आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें स्थिरता करे तो सिद्धदशा के कारणस्वरूप मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है तथा उसका फल सिद्धपद भी निरालंब है।^१”

मूल गाथा में त्रिकाली ध्रुव आत्मा के जितने विशेषण दिये गये हैं; उन सभी की सहेतुक सार्थकता टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव ने स्पष्ट कर दी है; उसे यदि रुचिपूर्वक गंभीरता से पढ़ें तो सब कुछ स्पष्ट हो जाता है। अतः उक्त टीका के भाव को गहराई से समझने का विनम्र अनुरोध है।

रही-सही कसर स्वामीजी ने पूरी कर दी है। ध्यान रहे स्वामीजी ने उक्त सभी विशेषणों को आत्मा के साथ-साथ सिद्धदशा पर भी गठित किया है। अतः अब कुछ कहने को शेष नहीं रह जाता। सच्चे आत्मार्थी को इतना ही पर्याप्त है। १७८॥

इसके बाद टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव 'तथा अमृतचन्द्र आचार्यदेव के द्वारा भी कहा गया है' - ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है-

(मंदाक्रांता)

आसंसारत्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमन्ताः

सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमंधाः।

एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः

शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति ॥८६॥^२

(हरिगीत)

अपदपद में मत्त नित अन्धे जगत के प्राणियो।

यह पद तुम्हारा पद नहीं निज जानकर क्यों सो रहे ॥

जागो इधर आओ रहो नित मगन परमानन्द में।

हो परमपदमय तुम स्वयं तुम स्वयं हो चैतन्यमय ॥८६॥

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४७९

२. समयसार : आत्मख्याति, छन्द १३८

आचार्यदेव संसार में मग्न जीवों को संबोधित करते हुए कह रहे हैं कि हे जगत के अन्धे प्राणियो! अनादि संसार से लेकर आजतक पर्याय-पर्याय में ये रागी जीव सदा मत्त वर्तते हुए जिस पद में सो रहे हैं; वह पद अपद है, अपद है - ऐसा तुम जानो।

हे भव्यजीवो ! तुम इस ओर आओ, इस ओर आओ; क्योंकि तुम्हारा पद यह है, यह है; जहाँ तुम्हारी शुद्ध-शुद्ध चैतन्यधातु स्वयं के रस से भरी हुई है और स्थाईभावत्व को प्राप्त है, स्थिर है, अविनाशी है।

उक्त छन्द में तीन पद दो-दो बार आये हैं - १. अपद है, अपद है; इधर आओ, इधर आओ; और शुद्ध है, शुद्ध है। इन पदों की पुनरावृत्ति मात्र छन्द के अनुरोध से नहीं हुई है; अपितु इस पुनरावृत्ति से कुछ विशेष भाव अभिप्रेत है।

इसमें शुद्ध है, शुद्ध है; पद की पुनरावृत्ति से द्रव्यशुद्धता और भावशुद्धता की ओर संकेत किया गया है। अपद है, अपद है और इधर आओ, इधर आओ पदों से अत्यधिक करुणाभाव सूचित होता है ॥८६॥

इसके उपरान्त टीकाकार मुनिराज 'तथा हि' लिखकर एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है -

(शार्दूलविक्रीडित)

भावाः पंच भवन्ति येषु सततं भावः परः पंचमः

स्थायी संसृतिनाशकारणमयं सम्यग्दृशां गोचरः।

तं मुक्त्वाखिलरागरोषनिकरं बुद्ध्वा पुनर्बुद्धिमान्

एको भाति कलौ युगे मुनिपतिः पापाटवीपावकः ॥२९७॥

(वीर)

भाव पाँच हैं उनमें पंचम परमभाव सुखदायक है।

सम्यक् श्रद्धा धारकगोचर भवकारण का नाशक है ॥

परमशरण है इस कलियुग में एकमात्र अधनाशक है।

इसे जान ध्यावें जो मुनि वे सघन पापवन पावक हैं ॥२९७॥

भाव पाँच हैं; जिनमें संसार के नाश का कारण यह परम पंचमभाव-परम पारिणामिकभाव निरन्तर रहनेवाला स्थायी भाव है और सम्यग्दृष्टियों के दृष्टिगोचर है। समस्त राग-द्वेष को छोड़कर तथा उस परमपंचमभाव को जानकर जो मुनिवर उसका उग्र आश्रय करते हैं; वे मुनिवर ही इस कलियुग में अकेले पापरूपी भयंकर जंगल जलाने में, भस्म कर देने में समर्थ अग्नि के समान हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“भाव पाँच हैं। उनमें एकद्रव्यरूपभाव है और चार पर्यायरूपभाव हैं। एक त्रिकाली स्वभावभाव है और चार भाव समय से संबंधित हैं अर्थात् सभी का एक निश्चित समय है। पंचम पारिणामिकभाव निरन्तर स्थायी है। यह भाव सम्यग्दर्शन, मोक्षमार्ग और सिद्धदशा का कारण है।”

यहाँ मुनियों के उग्र पुरुषार्थ होने की वजह से उन्हें अग्नि समान कहा है। सम्यग्दृष्टि के उग्र पुरुषार्थ नहीं होता; अतः वह अग्नि समान नहीं है। मुनिराज तो आत्मस्वरूप में विशेष लीन होते हैं; अतः उनके पुण्य-पाप की वृत्ति उत्पन्न ही नहीं होती। पंचमहाव्रत तथा अट्टाईस मूलगुण पालने के विकल्प, अचेलपना, एकबार भोजन आदि के विकल्प भी परमार्थ से पाप के समान 'छोड़ने योग्य' ही हैं; उन विकल्पों को जलाने के लिए मुनि समर्थ हैं।”

इस छन्द में यह कहा गया है कि औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक - इन पाँच भावों में परम-परिणामिकभाव नामक सदा स्थायी रहनेवाला सम्यग्दृष्टियों के गोचर पंचमभाव भव का अभाव करनेवाला है। एकमात्र वे मुनिवर ही इस कलियुग में पापरूपी भयंकर जंगल को जलाने में, भस्म कर देने में अग्नि के समान हैं; जो समस्त राग-द्वेष छोड़कर, उस परम पंचमभाव को जानकर उस परमपारिणामिकभाव का उग्र आश्रय करते हैं; क्योंकि उक्त परमपरिणामिक भावरूप पंचमभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य की प्राप्ति होती है, मुक्ति की प्राप्ति होती है ॥२९७॥

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १४८५

२. वही, पृष्ठ १४८६

आत्मा से परमात्मा बनने की विधि

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव आत्मा से परमात्मा बनने की प्रक्रिया का महोत्सव है। इस महोत्सव में पंचकल्याणक सम्बन्धी क्रिया-प्रक्रियाओं के माध्यम से आत्मा से परमात्मा बनने की प्रक्रिया का प्रदर्शन होता है, विद्वानों के प्रवचनों के माध्यम से समागत श्रद्धालुओं को आत्मा से परमात्मा बनने की विधि बताई जाती है। - पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ 2